AFR

राज्य उपभोक्ता विवाद प्रतितोष आयोग, उ0प्र0, लखनऊ।

(सुरक्षित)

परिवाद संख्या 17/2012

राजीव कुमार जैन पुत्र स्वर्गीय श्री डी0एन0 जैन, मकान नं0 3/396, विशाल खण्ड, गोमती नगर लखनऊ .....परिवादी

बनाम्

एल0आई0सी0 हाउसिंग फाइनेन्स लि0 द्वितीय तल, मेट्रो टावर, अपोजिट सहारा गंज मार्ग, सप्रू मार्ग, हजरतगंज लखनऊ द्वारा एरिया मैनेजर .....विपक्षी सं0–1

ज्वाइण्ट रजिस्ट्रार, प्रथम लखनऊ .....विपक्षी सं0–2

समक्ष :–

1. माननीय श्री सैयद अली अज़हर रिज़वी, पीठासीन सदस्य।

2. माननीय श्री जुगुल किशोर, सदस्य।

परिवादी की ओर से उपस्थित : श्री सर्वेश कुमार शर्मा, विद्वान अधिवक्ता।

विपक्षी सं0–1 की ओर से उपस्थित : श्री कुलदीप कुमार शुक्ला,विद्वान अधिवक्ता

विपक्षी सं0–2 की ओर से उपस्थित : कोई नहीं।

दिनांक : 10-09-2012

माननीय श्री जुगुल किशोर, सदस्य द्वारा उद्घोषित

निर्णय

प्रस्तुत परिवाद, राजीव कुमार जैन द्वारा विपक्षीगण, एल0आई0सी0 हाउसिंग फाइनेन्स लि0 द्वितीय तल, मेट्रो टावर, अपोजिट सहारा गंज मार्ग, सप्रू मार्ग, हजरतगंज, लखनऊ द्वारा एरिया मैनेजर व ज्वाइण्ट रजिस्ट्रार, प्रथम लखनऊ के विरूद्ध उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम 1986 की धारा–17 के अन्तर्गत योजित किया गया है।

संक्षेप में इस मामले के तथ्य इस प्रकार हैं कि परिवादी का कथन है कि परिवादी मकान नं0 3/396, विशाल खण्ड, गोमती नगर लखनऊ का स्वामी है। परिवादी ने दिनांक 15.04.1998 को विपक्षी संख्या–1 से रू0 4,75,000.00 का खाता संख्या–26502710 पर गृह ऋण लिया था। उक्त ऋण के एवज में परिवादी द्वारा अपने उपरोक्त मकान के मूल दस्तावेज/रजिस्ट्री विपक्षी संख्या–1 के यहाँ बंधक रखी थी। परिवादी द्वारा उक्त ऋण का पूर्ण भुगतान दिनांक 30.05.2003 तक विपक्षी संख्या–1 को कर दिया था और अपने पत्र दिनांक 30.05.2003 के द्वारा परिवादी ने विपक्षी संख्या–1 से अपने मकान के मूल दस्तावेज/रजिस्ट्री वापस माँगे गये, जिस पर विपक्षी संख्या–1 द्वारा दिनांक

12.12.2003 को एक प्रमाण पत्र जारी किया गया, जिसके द्वारा उन्होंने परिवादी को सूचित किया कि परिवादी द्वारा बंधक स्वरूप रखे गये भवन के मूल दस्तावेज/रजिस्ट्री कहीं गुम हो गये हैं। परिवादी द्वारा पुनः रू0 5,00,000.00 (रू0 पाँच लाख) का ऋण विपक्षी संख्या–1 से लिया गया, जो कि परिवादी को विपक्षी ने काफी जद्दोजहद् के बाद दिया। उक्त ऋण खाता संख्या–26505496 था। परिवादी द्वारा उक्त ऋण का भी पूर्ण भुगतान विपक्षी संख्या–1 को कर दिया। विपक्षी संख्या–1 से अपने बंधक रखे गये मूल दस्तावेज माँगे गये, परन्तु विपक्षी संख्या–1 द्वारा मूल दस्तावेज नहीं दिये गये। परिवादी द्वारा विपक्षी संख्या–1 पर दबाव बनाने के बाद विपक्षी संख्या–1 द्वारा पुनः दिनांक 11.08.2006 को एक प्रमाण पत्र जारी किया गया, जिसके द्वारा उक्त भवन को बंधकमुक्त कर दिया गया, परन्तु परिवादी के द्वारा जमा की गयी भवन के मूल दस्तावेज/रजिस्ट्री को विपक्षी संख्या–1 द्वारा वापस नही किया गया। परिवादी के अथ्क प्रयासों के बावजूद भी विपक्षी संख्या–1 के अधिकारियों, कर्मचारियों से सम्पर्क किया और अनुरोध किया कि परिवादी द्वारा जमा किये गये भवन के मूल दस्तावेज/रजिस्ट्री उसे वापस लौटा दिये जायें, क्योंकि परिवादी को उक्त भवन के विरूद्ध अन्य बैंको से ऋण प्राप्त करना है। हर बैंक ऋण देने के लिए मकान के मूल दस्तावेज/रजिस्ट्री की माँग कर रहे हैं। अतः परिवादी को उक्त भवन के मूल दस्तावेज/रजिस्ट्री वापस कर दी जाय। परिवादी के पास मूल दस्तावेज न होने के कारण अपूर्णनीय क्षति हो रही है, जिससे परिवादी का कार्य बाधिक हो रहा है और परिवादी ऋण प्राप्त करना चाहता है, जो उसको नहीं मिल पा रहा है। विपक्षी संख्या–1 द्वारा दिनांक 01.05.2007 को एक पत्र परिवादी को जारी किया गया, जो पत्रावली पर संलग्न संख्या–3 है। उक्त पत्र से स्पष्ट है कि विपक्षी संख्या–1 द्वारा परिवादी के मकान के मूल दस्तावेज/रजिस्ट्री के सम्बन्ध में लिख गया है कि परिवादी के मकान के मूल दस्तावेज/रजिस्ट्री कहीं गुम (Misplaced) हो गये हैं, जिस कारण विपक्षी संख्या–1, परिवादी को मकान के मूल दस्तावेज/रजिस्ट्री परिवादी को वापस नहीं लौटा पा रहे है। इसके बाद विपक्षी संख्या–1 द्वारा दिनांक 12.04.2007 तथा दिनांक 14.04.2007 को समाचार पत्र के माध्यम से खबर भी प्रकाशित करायी गयी है। विपक्षी संख्या–1 द्वारा परिवादी के द्वारा एक्यूटेबल मार्गेज (Equitable Mortage) के रूप में जमा किये गये मकान के मूल दस्तावेज/रजिस्ट्री वापस नहीं की गयी। परिवादी ने सेवाओं में कमी के लिए उक्त परिवाद इस आयोग के समक्ष प्रस्तुत किया है तथा यह याचना की है कि परिवादी को विपक्षी संख्या–1 से उसके द्वारा जमा किये गये

मकान के मूल दस्तावेज/रजिस्ट्री, जो कि मकान नं0 3/396, विशाल खण्ड, गोमती नगर लखनऊ के हैं, वह दिलाये जाने का आदेश पारित किया जाय तथा परिवादी द्वारा क्षतिपूर्ति के लिए रू0 24,00,000.00 (रू0 चौबिस लाख) दिलाये जाने की याचना भी की गयी तथा यह भी याचना की गयी है कि परिवादी की परिस्थितियों में जो भी उचित एवं न्यायसंगत आदेश आयोग को लगता हो, वह भी पारित किया जाय। परिवादी द्वारा अपने परिवाद के समर्थन में पत्रावली पर संलग्न–5 पर आर्कीटेक, श्री संजीव सिंह की आंकलन रिपोर्ट दाखिल की गयी है, जिसके अनुसार दिनांक 23.12.2006 को उक्त मकान का आंकलन आर्कीटेक द्वारा रू0 39,93,000.00 किया गया है। परिवादी द्वारा अपने परिवाद पत्र के साथ एक प्रार्थना पत्र अन्तरिम आदेश पारित करने हेतु दाखिल किया गया है तथा प्रार्थना पत्र में अनुरोध किया गया है कि परिवादी द्वारा जमा किये गये मूल प्रपत्र इस वाद की सुनवाई के दौरान वापस करें। इस आयोग ने दिनांक 05.03.2012 के आदेश द्वारा विपक्षी संख्या–1 को यह निर्देशित किया गया कि वह परिवाद के सुनवाई के दौरान परिवादी द्वारा जमा की गयी उपरोक्त मकान के मूल दस्तावेज, जो कि एक्यूटेबल मार्गेज के रूप में ऋण देने के लिए विपक्षी संख्या–1 ने प्राप्त किया है, उनको परिवादी को वापस कर दिया जाय। उक्त आदेश के अनुपालन हेतु परिवादी को दिनांक 14.03.2012 को पत्र देकर विपक्षी संख्या–1 से अपने मकान नं0 3/396, विशाल खण्ड, गोमती नगर लखनऊ के मूल दस्तावेज वापस माँगे गये, परन्तु विपक्षी संख्या–1 द्वारा इस आयोग के अन्तरिम आदेश का अनुपालन भी नहीं किया एवं नियत दिनांक तक कोई लिखित कथन भी दाखिल नहीं किया गया। अतः परिवादी द्वारा इस आयोग के आदेश के अनुपालन में निष्पादन वाद संख्या–16/2012 दाखिल किया गया, जिसमें दिनांक 30.05.2012 को निम्न आदेश पारित किया गया :–

30.05.2012 :–

" निष्पादनकर्ता के विद्वान अधिवक्ता श्री सर्वेश कुमार शर्मा द्वारा परिवाद संख्या–17/2012 में इस पीठ द्वारा पारित आदेश दिनांक 05.03.2012 का अनुपालन सुनिश्चित कराने हेतु उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम–1986 की धारा–27 के अन्तर्गत यह निष्पादन वाद योजित किया गया है।

अंगीकृत।

निर्णीत ऋणी/विपक्षी को इस निष्पादन प्रार्थना पत्र पर आपत्ति योजित करने हेतु एवं यह कारण बताने हेतु कि क्यों न उक्त धारा–27 के अन्तर्गत वांछित कार्यवाही उनके विरूद्ध की जाय, रजिस्टर्ड नोटिस जारी हो। यह निष्पादन वाद सुनवाई हेतु दिनांक 24.07.2012 को सूचीबद्ध हो। "

उक्त आदेश पारित होन के बाद भी विपक्षी संख्या–1 द्वारा कोई कार्यवाही नहीं की गयी तथा परिवादी द्वार जमा की गयी मूल दस्तावेज नहीं लौटाये गये।

परिवादी के विद्वान अधिवक्ता श्री सर्वेश कुमार शर्मा के तर्क सुनने के बाद व पत्रावली पर उपलब्ध परिवाद के समर्थन में दाखिल प्रपत्रों के विवेचन करने के उपरान्त पीठ द्वारा निर्णय सुरक्षित कर लिया। निर्णय सुरक्षित होने के उपरान्त विपक्षी संख्या–1 द्वारा लिखित बहस दाखिल की गयी। न्यायहित में उक्त लिखित बहस के तथ्य उद्धरित किया जा रहा है।

विपक्षी संख्या–1 द्वारा मूल रूप में यह आपत्ति की गयी है कि परिवादी द्वारा योजित परिवाद कालबाधित है। परिवाद कालबाधित होने के कारण निरस्त किये जाने की प्रार्थना की गयी है। विपक्षी संख्या–1 द्वारा परिवादी के तथ्यों पर जवाब देते हुए कहा गया है कि उनके द्वारा परिवादी को ऋण देते समय मकान नं0 3/396, विशाल खण्ड, गोमती नगर लखनऊ की मूल सेल डीड एक्यूटेबल मार्गेज के रूप में जमा की गयी थी। विपक्षी संख्या–1 द्वारा अपने लिखित बहस के प्रस्तर 4 में यह तथ्य स्वीकार किया गया है कि परिवादी द्वारा जमा किये गये मकान के मूल दस्तावेज/रजिस्ट्री कहीं गुम हो गये हैं, जिसके एवज में उनके द्वारा प्रमाण पत्र निर्गत कर दिया गया है और परिवादी को दुबारा रू0 5,00,000.00 (रू0 पाँच लाख) का ऋण भी दिया गया और दिये गये उपरोक्त ऋण के सम्बन्ध में सेल डीड की माँग की गयी है। विपक्षी संख्या–1 द्वारा अपने प्रस्तर–6 में यह यह तथ्य स्वीकार किया है कि विपक्षी संख्या–1 इस स्थिति में नहीं है कि वह परिवादी के मूल सेल डीड को वापस कर पाये। विपक्षी संख्या–1 द्वारा परिवादी द्वारा दाखिल आर्कीटेक की रिपोर्ट द्वारा भवन के मूल्य का आंकलन रूपये 39,93,000.00 दिनांक 23.12.2006 को किया गया है, को गलत बताया गया है। विपक्षी संख्या–1 द्वारा यह कहा गया है कि उनके द्वारा किसी भी प्रकार की कोई अन्फेयर ट्रेड प्रैक्टिस नहीं की गयी है। विपक्षी संख्या–1 द्वारा अपनी लिखित बहस के प्रस्तर 13 में यह कहा गया है कि यदि परिवादी उनसे उक्त भवन के विरूद्ध ऋण लेने के लिए आता है तो वह परिवादी के ऋण के आवेदन पर विचार कर सकते हैं। विपक्षी संख्या–1 द्वारा यह तथ्य स्वीकार किया गया है कि परिवादी से उसके मकान के मूल प्रपत्र (मूल दस्तावेज/रजिस्ट्री, सेल डीड) एक्यूटेबल मार्गेज के रूप में प्राप्त किये गये थे। विपक्षी संख्या–1 द्वारा अपने जवाब दावे के प्रस्तर–22 में यह कथन किया गया है कि अगर परिवादी नई सेल डीड को रजिस्टर्ड करवाना चाहता है तो

विपक्षी समस्त व्यय को देने को तैयार हैं। विपक्षी संख्या–1 द्वारा उक्त जवाबदावे के साथ एक प्रार्थना पत्र भी संलग्न किया गया है, जिसके द्वारा आयोग के आदेश दिनांक 05.03.2012 को सुधार/मोडिफाईड की प्रार्थना की गयी है। इस प्रार्थना पत्र में विपक्षी संख्या–1 द्वारा आयोग के आदेश दिनांक 05.03.2012 का अनुपालन करने में असमर्थता जाहिर की गयी है। इस प्रार्थना पत्र के साथ श्री संजय कुमार राय जो कि मैनेजर ऑपरेशनल के पद पर विपक्षी संख्या–1 के यहाँ नियुक्त हैं, उनका शपथपत्र भी दाखिल किया गया है, जिसमें कहा गया है कि परिवादी के मकान के मूल प्रपत्र कहीं मिस प्लेस हो गये हैं और ढूंढने पर आज तक नहीं मिल पाये हैं। अतः विपक्षी संख्या–1 द्वारा परिवादी का मूल सेल डीड वापस करना सम्भव नहीं है। अतः आयोग के आदेश दिनांक 05.03.2012 को मोडिफाईड कर दिया जाय।

उपरोक्त प्रकरण में निम्नलिखित तथ्यों पर दोनों पक्षों को कोई विवाद नहीं है। :–

1. परिवादी, भवन संख्या– 3/396, विशाल खण्ड, गोमती नगर लखनऊ का स्वामी है।

2. परिवादी द्वारा दिनांक 15.04.1998 को रूपये 4,75,000.00 विपक्षी संख्या–1 से ऋण लिया गया था, जिसके एवज में उपरोक्त मकान के मूल प्रपत्र/सेल डीड विपक्षी संख्या–1 के यहाँ एक्यूटेबल मार्गेज के रूप में जमा की गयी है।

3. विपक्षी द्वारा दिनांक 12.12.2003 को एक प्रमाण पत्र निर्गत किया गया है जिसके द्वारा यह सूचना प्रेषित की गयी कि परिवादी द्वारा जमा किया गया मूल प्रपत्र (सेल डीड) उनके कार्यालय द्वारा मिसप्लेस हो गया है।

4. विपक्षी संख्या–1 द्वारा पुनः रूपये 5,00,000.00 परिवादी को ऋण उक्त प्रापर्टी के एक्यूटेबल मार्गेज के तहत दिया गया, जिसका भुगतान परिवादी द्वारा दिनांक 23.02.2004 को कर दिया गया एवं दिनांक 11.08.2006 को अनापत्ति प्रमाण पत्र भी विपक्षी संख्या–1 द्वारा परिवादी के पक्ष में जारी किया गया।

5. विपक्षी संख्या–1 द्वारा यह तथ्य भी स्वीकार किया गया कि उनके कार्यालय द्वारा परिवादी के मूल प्रपत्र मिसप्लेस्ड कर दिये गये हैं और ढूंढने पर भी आज तक नहीं मिले हैं। इस वजह से परिवादी को वापस करने की स्थिति में नहीं है।

उपरोक्त प्रकरण में जिन तथ्यों पर दोनों पक्षों में विवाद है, वह निम्नलिति है। :–

1. विपक्षी संख्या–1 द्वारा प्रथम आपत्ति परिवाद के कालबाधित होने के सम्बन्ध में की गयी है तथा यह कहा गया है कि परिवाद लिमिटेशन एक्ट से बाधित है।

2. विपक्षी सख्या–1 द्वारा यह विवाद किया गया है कि परिवादी को ऋण रू0 4,75,000.00 दिनांक 15.04.1998 को दिया गया, जिसके एवज में उक्त सम्पत्ति के मूल प्रपत्र एक्यूटेबल मार्गेज के रूप में विपक्षी संख्या–1 द्वारा जमा किया गया है एवं यह विवाद किया गया है कि उनके द्वारा दिनांक 12.12.2003 को प्रमाण पत्र निर्गत किया गया, जिसके द्वारा यह सूचित किया गया है कि उक्त सम्पत्ति के मूल प्रपत्र कहीं मिसप्लेस्ड हो गये हैं। परिवादी को पुनः रू0 5,00,000.00 का ऋण दुबारा उक्त सम्पत्ति के एक्यूटेबल मार्गेज के रूप में दिया गया।

3. विपक्षी सख्या–1 द्वारा यह भी विवाद किया गया है कि उनके द्वारा किसी प्रकार की कोई भी अनफेयर ट्रेड प्रैक्टिस नहीं की गयी है तथा जवाबदावे के प्रस्तर 20 में यह तथ्य भी स्वीकार किया गया है कि अगर परिवादी पुनः उक्त सम्पत्ति के विरूद्ध विपक्षी संख्या–1 के यहाँ ऋण के लिए आवेदन प्रस्तुत करता है तो विपक्षी संख्या–1 उस पर विचार कर सकता है।

4. विपक्षी संख्या–1 द्वारा इस तथ्य को भी इंगित किया गया है कि वह सम्पत्ति के दुबारा रजिस्ट्री कराने में होने वाले समस्त व्यय को देने के लिए तत्पर है एवं परिवादी किसी भी प्रकार का कोई भी अनुतोष पाने का अधिकारी नहीं है।

उपरोक्त बिन्दुओं का निस्तारण परिवाद के निस्तारण के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण हो जाता है। इससे पहले कि वह इन विवादों का निपटारा गुणदोष के आधार पर करें। यह तथ्य महत्वपूर्ण हो जाता है कि एक्यूटेबल मार्गेज की परिभाषा क्या है एवं इसका अचल सम्पत्ति पर क्या महत्व है।

<u>एक्यूटेबल मार्गेज (Equitable Mortage) की परिभाषा :–</u>

" Section 58 (f) of Transfer of Propert Act, 1882 defines **'equitable mortgage'** as under :

"Mortgage by deposit of title-deeds.-

(f) Where a person in any of the following towns, namely, the towns of Calcutta, Madras, [and Bombay], and in any other town which the State Government concerned may, by notification in the Official Gazette, specify in this behalf, delivers to a creditor or his

agent documents of title to immoveable property, with intent to create a security thereon, the transaction is called a mortgage by deposit of title-deeds."

इस परिप्रेक्ष्य में परिवादी द्वारा माननीय सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय R. Jankiraman V/s State Represented by Inspector of Police (2006) 7 Supreme Court Cases 697 में यह कहा गया है कि एक्यूटेबल मार्गेज (Equitable Mortage) का सृजन हमेशा मूल टाईटल डीड से होता है। अतः माननीय सर्वोच्च न्यायालय द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त से यह तथ्य निर्विवाद हो जाता है कि एक्यूटेबल मार्गेज का अर्थ सम्पत्ति के मूल दस्तावेजों को ही माना जायगा न कि उनकी फोटोप्रतियों छायाप्रतियों को।

अतः पीठ इस निर्णय पर पहुँचती है कि एक्यूटेबल मार्गेज का अर्थ सम्पत्ति के मूल कागजात ही कहलायेगें तथा उनकी फोटोप्रतियां नहीं कहलायेंगी।

विपक्षी संख्या–1 की प्रथम आपत्ति कि परिवादी का परिवाद कालबाधित है, निरस्त होने योग्य है। प्रथम तो लिमिटेशन एक्ट के प्राविधान उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम–1986 पर लागू नहीं होते, क्योंकि लिमिटेशन का प्राविधान उपभोक्ता अधिनियम की धारा–24 A में दिया गया है, जिसके अनुसार परिवाद मंच के समक्ष कॉज ऑफ एक्शन के होने के दो वर्ष के भीतर दाखिल कर देना चाहिये। यहां पर यह तथ्य विचारणीय है कि परिवाद जो कि वर्ष 2012 में दाखिल किया गया है वह कालबाधित की श्रेणी में आयेगा अथवा नहीं। लिमिटेशन का बिन्दु माननीय सर्वोच्च न्यायालय एंव माननीय राष्ट्रीय आयोग द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि "Question of Limitation is the combination of both facts and law, moreover pleadings, circumstances and the nature of the case determines the cause of action before arriving at the conclusion of the case to be barred by virtue of the rule of limitation, the question of limitation is to be decided at the initial stage i.e. at the inception of the complaint case, the question of limitation Prescribed under Section 24 A in the Consumer Act is to be seen and followed by the Consumer councils which is mandatory."

इस सम्बन्ध में माननीय सर्वोच्च न्यायालय द्वारा " State Bank of India versus B.S. Agricultural Industries (I) II (2009) CPJ 29 (SC) " में निम्नलिखित सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये हैं, जो कि निम्नलिखित हैं :–

" 7. Section 24 A of the act, 1986 prescribes limitation period for admissioin of a complaint by the Consumer For a thus :

" 24A. Limitation period – (1) The District Forum, the State Commission or the National Commission shall not admit a complaint unless it is filed within two years from the date on which the cause of action has arisen.

(2) Notwithstanding anything contained in Sub-section (1), a complaint may be entertained after the period specified in Sub-section (1), if the complaint satisfies the District Forum, the State Commission or the National Commission, as the case may be, that he had sufficient cause for not filling the complaint within such period:

Provided that no such complaint shall be entertained unless the National Commission, the State Commission or the District Forum, as the case may be, records its reasons for condoning such delay.

It would be seen from the aforesaid provision that it is peremtory in nature and requires Consumer Forum to see before it admits the complaint that it has been filed within two years from the date of accrual of cause of action. The Consumer Forum, however, for the reasons to be recorded in writing may condone the delay in filing the complaint if sufficient cause is shown. The expressioin, 'shall not admit a complaint' occurring in Section 24A is sort of a legislative command to the Consumer Forum to examine on its own whether the complaint has been filed within limitation period prescribed thereunder. As a matter of law, the Consumer Forum must deal with the complaint on merits only if the complaint has been filed within two years from the date of accrual of cause of actioin and if beyond the said period, the sufficient cause has been shown and delay condoned for the reasons recorded in writing. In other words, it is the duty of the Consumer Forum to take notice of Section 24A and give effect to it. If the complaint is barred by time and yet, the Consumer Forum decides the complaint on merits, the Forum would be committing an illegality and, therefore, the aggrieved party would be entitled to have such order set aside.

On its plain averments, the complaint is barred by time and ought to have been dismissed as such but curiously this aspect was not examined by any of the Consumer Fora although specific plea to this effect was taken by the Bank.

Since the complaint is barred by time and liable to be dismissedon that count, it would be unnecessary to examine the other grounds of challenge.

By way of foot not, we may observe that the learned Counsel sought to raise an equitable plea that the bank was under an obligatioin to protect the interest of the complainant and in this regard placed reliance upon the decision of this Court in Sumatidevi M. Dhanwatay v. Union of India & Ors, II (2004) CPJ 27 (SC) = III (2004) SLT 227=2004 (4) SCALE 607. Firstly, the cited judgment has no application to the present fact situation. Secondly, and more importantly, the complaint having been held time barred, this plea is not of much significance.

In the result, the appeal is allowed, and the decision of the Natioinal Commission dated October 1, 2001, affirming the orders of State Commissioin and District Forum, is set aside. The complaint stands dismissed as time barred. The parties shall bear their own costs."

उपरोक्त के सम्बन्ध में माननीय राष्ट्रीय आयोग द्वारा " United India Insurance Company Limited and another versus R. Piyarelal Import and Export Limited I (2010) CPJ 22 (NC) " में निम्नलिखित सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये हैं, जो कि निम्नलिखित है :—

" On the plea of the learned Counsel for the petitioner/Nigam that the complaint was barred by limitation, we are of the view that the said contentioin has to be rejected for the simple reason that the petitioner/Nigam while refunding the cheque for Rs. 3,000 stating therein that no plot was available had failed to refund the initial 10% deposit of the value of the plot i.e. Rs. 332 so as to put an end to the dispute. By retaining this amount of Rs. 332 and also another sum of Rs. 500, which was deposited by the respondent-complainant was kept

alive. This would constitute a continous cause of action and, therefore, the objectioin with regard to complaint being barred by limitation has to be overruled. "

उक्त विधि व्यवस्थाओं के परिशीलन के उपरान्त यह तथ्य निर्विवाद है कि कोई भी परिवाद उपभोक्ता मंच में पोषणीय नहीं है अगर वह समयसीमा के अन्तर्गत दाखिल नहीं किया गया है। पस्तुत प्रकरण में विपक्षी संख्या–1 द्वारा अपने शपथ पत्र एवं अपने जवाबदावे में हमेशा मूल प्रपत्र के मिस्प्लेस्ड होने की बात कही गयी है। विपक्षी संख्या–1 द्वारा कहीं पर यह नहीं कहा गया है कि उनके द्वारा मूल प्रपत्र खो गये हैं एवं इस सम्बन्ध में परिवादी को सूचित कर दिया गया। अतः मिस्प्लेस्ड का अर्थ हम यहां पर यही लगायेंगे कि जो प्रपत्र गुम हो जाते हैं वह ढूंढने पर मिल जाते हैं। परिवादी का अपने परिवाद में यह स्पष्ट कथन है कि परिवादी ने कई बार विपक्षी संख्या–1 को अपने मूल दस्तावेज वापस करने को कहे परन्तु विपक्षी संख्या–1 द्वारा आज तक परिवादी को मूल दस्तावेज नहीं वापस किये गये। यहां तक कि इस आयोग के अन्तरिम आदेश दिनांक 05.03.2012 का अनुपालन भी विपक्षी संख्या–1 द्वारा नहीं किया गया। इस तथ्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि परिवादी का कॉज ऑफ एक्शन Continious है और उसका परिवाद उपभोक्ता अधिनियम की धारा–24 A से बाधित नहीं होता है।

विपक्षी संख्या–1 द्वारा दूसरा बिन्दु यह उठाया गया है कि उनके द्वारा मूल प्रपत्र गुम हो जाने के बावजूद भी परिवादी को दुबारा रूपये 5,00,000.00 का ऋण दिया गया और यदि परिवादी, विपक्षी संख्या–1 को इस सम्पत्ति के विरूद्ध ऋण लेने के लिए आवेदन प्रस्तुत करता है तो वह उस आवेदन पर विचार कर सकते हैं।

विपक्षी संख्या–1 द्वारा अपने जवाबदावे में यह तथ्य कहीं नहीं कहा गया है कि वह परिवादी को ऋण देंगे, बल्कि यह कहा गया है कि वह विचार करेंगे। इस परिप्रेक्ष्य में परिवादी द्वारा दाखिल की गयी लिखित बहस के साथ संलग्न, एल0आई0सी0, हाउसिंग होम लोन के नियम व शर्तों का अवलोकन महत्वपूर्ण हो जाता है। उक्त सभी नियमों में विभिन्न प्रकार के लोन का जिक्र है, जिसमें हर प्रकार के लोन में सम्पत्ति के मूल्य का 85 प्रतिशत लोन देने की बात विपक्षी संख्या–1 ने कही है। उक्त लोन के एवज में सिक्योरिटी के मद में प्रथम कन्डीशन एक्यूटेबल मार्गेज आफ हाऊस/फ्लैट है अर्थात सम्पत्ति के मूल प्रपत्रों का देना इस पूरी स्कीम में विपक्षी संख्या–1 ने कहीं पर भी यह बताया है कि

मूल प्रपत्र न होने की स्थिति में फोटोकापी के आधार पर उक्त लोन देंगे या नहीं। इस नियम एवं शर्तों को अगर लिखित कथन के प्रस्तर–13 के साथ पढ़ा जाय तो यह स्पष्ट है कि किसी भी बैंक एवं फाईनेन्शियल इन्स्टीट्यूट से अगर कोई उपभोक्ता ऋण के लिए आवेदन प्रस्तुत करता है तो उसे एक्यूटेबल मार्गेज के रूप में अपने मकान के मूल दस्तावेज जमा करने पड़ेंगे अन्यथा उसे लोन नहीं मिलेगा। परिवादी ने अपने परिवाद के प्रस्तर–13 में यह स्पष्ट कथन किया है कि कोई भी बैंक एवं फाईनेन्शियल इन्स्टीट्यूट उसे लोन नहीं दे रहा है, क्योंकि उसके पास अपने मकान के मूल प्रपत्र नहीं है। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि किसी भी लोन को प्राप्त करने के लिये सम्पत्ति के मूल दस्तावेज का होना अत्यन्त आवश्यक है।

विपक्षी संख्या–1 द्वारा यह कथन किया गया है कि उन्होंने किसी भी की कोई अनफेयर ट्रेड प्रैक्टिस नहीं की है। विपक्षी संख्या–1 द्वारा अपने पूरे लिखित अभिकथन में कहीं पर यह बात नहीं कही गयी है कि उनके द्वारा सेवाओं में कोई कमी नहीं की गयी है। यहां पर यह कथन निर्विवाद है कि परिवादी के द्वारा जमा किया गया मूल प्रपत्र विपक्षी संख्या–1 द्वारा मिस्प्लेस्ड कर दिया गया है। क्या उक्त कृत सेवाओं में कमी को दर्शित करता है या नहीं। इस परिप्रेक्ष्य में माननीय राष्ट्रीय आयोग का निर्णय C.L. Khanna Vs. Dena Bank 2006 NCJ 51 (NC) में यह विधि व्यवस्था प्रतिपादित की गयी कि अगर बैंक द्वारा मूल दस्तावेज खो जाते हैं तो वह सेवाओं में कमी का मामला बनता है और चूंकि इस निर्णय में परिवादी अपने मकान को बेंचना चाह रहा था। इसलिए माननीय राष्ट्रीय आयोग ने रू0 1,00,000.00 क्षतिपूर्ति एवं रू0 25,000.00 वाद व्यय आरोपित किया।

1. Whether the complaint is time-barred ?

a. From the facts stated above, it is absolutely clear that the complainant delivered the title deeds of the property to the Bank for obtaining loan in 1973. It is also undisputed that on the basis of the pledge of the title deeds, the complainant received loan from the Bank. At no point of time the Bank had denied its liability to return the title deeds delivered by the Complaint is time-bared. It is Therefore, it would be difficult to arrive at a conclusion that this complaint is time-bared. It is not the case that the loan transactioin was squared up by the Bank and thereafter, at no point of time there was denial on the part of the Bank to deliver the title deed.

b. Secondly, the Bank had never informed the complainant that as the title deed was lost, therefore they would bot deliver it to the complainant.

c. On the contrary there is evidence on record by way of correspondence exchanged between the Bank and the Advocate Mr. R.M. Gupta with regard to the title deed delivered by the complainant and request for its return. "

" From the above discussion, it is extablished that the complainant handed over the title deeds of Okhla property, to the Bank for taking loan from it. The said title deed was handed over to R.M. Gupta & Co. for verification. R.M. Gupta had given a certificate that the complainant was having clear marketable title in the same property situated near Okhla Railway Station. The said title clear was not returned to the complainant. It is also established that the complainant was asked to deliver the title deed of his house situated at about Fazal Road. From the correspondence it is apparent that the complainant was in financial difficulty upto 1989. Thereafter, by letter dated 21st June, 1989 the complainant informed the Bank that he was prepared to pay the outstanding dues and that his title deeds be returned. For this, he was required to approach various authorities. Finally, he approached the Banking Ombudsman and as he could not gbet any compensation for settlement of the account, he was required to file complaint before this Commission. Considering these facts and the directions given by the Ombudsman, it would be just and reasonable to direct that—

(i) The Bank would not to charge any interest on the loan amount from June, 1989 :

(ii) To publish an advertisement in the newspapaer as directed by the Banking Ombudsman with regard to the loss of title deed :

(iii) Tu return the title deed of other property No. 11, Abul Fazal Road, New Delhi :

(iv) The Bank shall pay comensation of Rs. 1,00,000/- to the complainant for the aforesaid deficiency in service.

Order accordingly. In the result, the complaint is allowed to the aforesaid extent. Opposite party shall pay costs quantified at Rs. 25,000/- to the complainant. "

इस मामले में चूंकि परिवादी सी0एल0 खन्ना मकान बेंचना चाहते थे और माननीय राष्ट्रीय आयोग ने यह निष्कर्ष लिया कि मूल प्रपत्र खोने से मकान बेंचने में परिवादी को कोई अधिक दिक्कत नहीं आयेगी। अतः उक्त क्षतिपूर्ति आरोपित की गयी। प्रस्तुत वाद में परिवादी का कथन है कि विपक्षी संख्या–1 द्वारा उसके मूल प्रपत्र उसको वापस नहीं किये जा रहे हैं, जबकि उसके द्वारा सम्पूर्ण लोन की धनराशि विपक्षी संख्या–1 को वापस की जा चुकी है। अतः परिवादी किसी भी बैंक से लोन नहीं ले पा रहा है, जिसकी वजह से परिवादी को अपूर्णनीय क्षति का सामना करना पड़ रहा है। अतः परिवादी ने प्रस्तुत परिवाद क्षतिपूर्ति एवं प्यूनिटिव डैमेजेज के लिये दाखिल किया है।

विपक्षी संख्या–1 द्वारा यह कहा गया है कि वह परिवादी को दूसरी रजिस्ट्री कराने में आने वाले व्यय को देने के लिये तत्पर है, परन्तु विपक्षी संख्या–1 द्वारा यह नहीं बताया गया है कि अगर मूल रजिस्ट्री प्रपत्र खो जाने की स्थिति में क्या दोबारा मूल रजिस्ट्री सम्पत्ति की, की जा सकती है अथवा नहीं ? यहां पर यह कहना समीचीन होगा कि मूल सेल डीड के खो जाने के उपरान्त रजिस्ट्रार कार्यालय से सेल डीड की सर्टिफाईड प्रतियां तो प्राप्त की जा सकती है, परन्तु मूल सेल डीड सिर्फ एक बार ही होती है। कोई भी बैंक या फाईनेन्शियल इन्स्टीट्यूट सटिफाईड फाटोकापियों के आधार पर लोन नहीं देता है, क्योंकि सर्टिफाईड फोटोकापीयां इक्यूटेबल मार्गेज की परिभाषा के अन्तर्गत नहीं आती हैं। अतः परिवादी को किसी भी बैंक एवं फाईनेन्शियल इन्स्टीट्यूट से लोन नहीं मिल सकता। यह हो सकता है कि बैंक नियमों की उपेक्षा करके परिवादी को लोन दे दे, परन्तु नियमतः परिवादी हक से बैंक से सर्टिफाईड कॉपी की फोटोकापी के आधार पर लोन प्राप्त करने का अधिकारी नहीं है। जैसा कि स्वंय विपक्षी संख्या–1 द्वारा अपने जवाबदावे के प्रस्तर–13 में कहा गया है।

अतः उपरोक्त समस्त विवेचनाओं के आधार पर पीठ इस निष्कर्ष पर पहुँचती है कि विपक्षी संख्या–1 द्वारा सेवाओं में घोर कमी की गयी है एवं उपभोक्ता के मूल दस्तावेज आज तक वापस नहीं किये गये हैं। यहां तक कि विपक्षी संख्या–1 ने उन अफसरों क विरूद्ध कोई डिपार्टमेन्टल कार्यवाही भी नहीं की गयी है, जिन्होंने परिवादी के मूल प्रपत्र आफिस से मिस्प्लेस्ड कर

दिये। विपक्षी संख्या—1, एक सरकारी निकाय है, जिसका कार्य उपभोक्ताओं के हित में कार्य करना है एवं अगर उसके कर्मचारी किसी भी तरह की कोई गलती या नेग्लीजेन्स करते हैं तो यह विपक्षी संख्या—1 की जिम्मेदारी है कि वह उन कर्मचारियों को दण्डित करें। प्रस्तुत प्रकरण इस देश में उपभोक्ता के शोषण का ज्वलंत उदाहरण है, क्योंकि विपक्षी संख्या—1 सही तथ्यों को छिपा रहा है और कहीं पर भी यह नहीं कह रहा है कि परिवादी के मकान के मूल दस्तावेज खो गये हैं, परन्तु हर जगह यही कहा जा रहा है कि मूल दस्तावेज मिस्प्लेस्ड हो गये हैं, कब मिलेंगे, कैसे मिलेंगे यह बात कहीं नहीं कही गयी है। हम सरकारी विभागों से इस तरह के गैर जिम्मेदाराना रवैय्ये की घोर भर्त्सना करते हैं। विपक्षी संख्या—1 का यह दायित्व था कि वह इस मंच के समक्ष सही तथ्यों के साथ आता तथा मंच को यह अवगत कराता कि किन कर्मचारियों की वजह से परिवादी के मूल प्रपत्र गुम हो गये हैं एवं क्या कोशिश उनको ढूंढने के लिये की गयी।

उपरोक्त के सम्बन्ध में माननीय सर्वोच्च न्यायालय द्वारा " Lucknow Development Authority V/s. M.K. Gupta 1994 AIR 787 " में पारित निर्णय के अन्तर्गत यह विधि व्यवस्था प्रतिपादित की गयी है कि सरकारी विभाग उपभोक्ताओं का अगर शोषण करता है तो वह उपभोक्ताओं को क्षतिपूर्ति देगा तथा उन क्षतिपूर्ति को उन अफसरों की तन्ख्वाह में से काटेगा, जिनकी वजह से विभाग को उपभोक्ता को क्षतिपूर्ति देनी पड़ी है।

" Where private undertakings are taken over by the Government or Corporations are created to discharge what is otherwise State's functioin, one of the inherent objectives of such social welfare measures is to provide better, efficient and cheaper services to the people. Any attempt, therefore, to exclude services offered by statutory or official bodies to the common man would be against the provisions of the Act and the spirit behind it. It is indeed unfortunate that since enforcement of the Act there is a demand and even political pressure is built up to exclude one or the other class from operation of the Act. How ironical it is that official or semi-official bodies which insist on numerous benefits, which are otherwise available in private sector, suceeed in bargaining for it on threat of strike mainly because of larger income accruing due to rise in number of consumers and not due to better and efficient functioning claim exlusion when it comes to

accountability from operation of the Act. The spirit of consumerism is so beeble and dormant that no association, public or private spirited, raises any finger on regular hike in prices not because it is necessary but either because it has not been done for sometime or because the operational cost has gone up irrespective of the efficiency without any regard to its impact on the common man. In our opinion, the entire argument found on being statutory bodies does not appear to have any substance. A government or semi-government body or a local authority is as much amenable to the Act as any other private body rendering similar service. Truly speaking it would be a service to the society if such bodies instead of cleaming exlusion subject themselves to the Act and let their acts and omissions be scrutinized as public accountability is necessary for healthy growth of society. The jurisdiction and power of the courts to indemnify a citizen for injury suffered due to abuse of power by public authorities is founded as observed by Lord Hailsham in Cassel & Co. Ltd. v. Broome 13 on the principle that, an award of exemplary damages can serve a useful purpose in vindicating the strength of law' and ordinary citizen or a common man is hardly equipped to match the might of the State or its instrumentalities. That is provided by the rule of law. It acts as a check on arbitrary and capricious exercise of power. In Rookes v. Barrard 14 it was observed by Lord Devlin, 'the sercants of the government are also the sercants of the people and the use of their power must always be subordinate to their duty of service.' A public functionary if he acts maliciously or oppressively and the exercise of power results in harassment and agony then it is not an exercise of power but its abuse. No law proveds protection against it. He who is responsibly for it must suffer it. Compensation or damage as explained earlier may arise even when the officer discharges his duty honestly and bona fide. But when it arises due toi arbitary or capricious behaviour then it loses its individual character and assumes social significance. Harassment of a common man by public authorities is socially abhorring and legally impermissible. It may harm him personally but the injury to society is for more grievous. Crime and corruptioin thrive and prosper

in the society due to lack of public resistance. Nothing is more damaging than the feeling of helplessness. An ordinary citiszen instead of complaining and fighting succumbs to the pressure of undesirably functioning in offices instead of standing against it. Therefore the award of compensation for harassment by public authorities not only compensates the individual, satisfies him personally but helps in curing social evil. It may result in improving the work culture and help in changing the outlook. Wade in his book Administrative Law has observed that it is so the credit of public authorities that there are simply few reported English decisiojns on thim form of malpractice, namely, misfeasance in public offices which includes malicious use of power, deliberatge maladministration and perhaps also other unlawful acts causing injury. One of the reasons for this appears to be development of law which, apart, from other factors succeeded in keeping a salutary check on the fuctioning in the government or semi-government offices by holding the officers personally responsible for their capricious or even ultravires action resulting in injury or loss to a citizen by awarding damages against them. The concept of authority and power exercised by public functionaries has many dimensions. It has undergone tremendous change in socioeconomic outlook. The authority empowered to functioin under a statute while exercising power discharges public duty. It has to act to sub serve general welfare and common good. In discharging this duty honestly and bona fide, loss may accrue to any person. And he may claim compensatioin which may in circumstances be payable. But where the duty is performed capriciously or the exercise of power results in harassment and agony then the responsibility to pay the loss determined should be whose ? In a modem society no authority can arrogate to itself the power to act in a manner which is arbitary. It is unfortunate that matters which require immediate attention linger on and the man in the street is made to run from one end to other with no result. The culture of window clearance appears to be ttotally dead. Even in ordinary matters a common man who has neither the political backing nor the financial strength to match the inactioin in public oriented departments

gets frustrated and it erodes the credibility in the system. Public administration, no doubt involves a vast amount of administrative discretion which shields the action of administrative authority. But where it is found that exercise of discretioin was mala fide and the complainant is entitled to compensation for mental and physical harassment then the officer can no more claim to be under protective cover. When a citizen seeks to recover compensation from a public authority in respect of injuries suffered by him for capricious exercise of power and the National Commission finds it duly proved then it has a statutory obligation to award the same. It was never more necessary than today when even social obligations are regulated by grant of statutory powers. The test of permissive form of grant is over. It is now imperative and implicit in the exercise of power that it sould by for the sake of society. When the court directs payment of damages or compensation against the State the ultimate suffers is the common man. It is the tax payers' money which is paid for inaction of those who are entrusted under the Act to discharge their duties in accordance with law. It is, therefore, necessary that the Commission when it is satisfied that a complainant is entitled to compensation for harassment or mental agony or oppressioin, which finding of course should be recorded carefully on material and convincing circumstances and not lightly, then it should further direct the department concerned to pay the amount to the complainant from the public fund immediately but to recover the same from those who are found responsible for such unpardonable behaviour by dividing it proportionately where there are more than one functionaries.

The entire purpose of widening the definition is to include in it not only day-do-day buying and selling activity undertaken by a common man, but even such activities which are otherwise not commercial in nature, yet they partake of a character in which some benefit is conferred on the consumer... Similarly, when a statutory authority develops land or allots a site or constructs a house for the benefit of a common man, it is as such, "service" as by a builder or contractor... When possession of the property is not delivered within

stipulated period, the delay so caused is denial of "service". Such disputes or claims are not in respect of the immovable property as argued, but "deficiency in rendering of service" of particular standard, quality or grade... Similaryly, when a Statutory Authority undertakes to develop land and frame housing scheme, it while performing statutory duty, renders service to the society in general and individual in particular. A Development Authority while developing the land or framing a scheme for housing discharges statutory duty, the purpose and objective of which is service to the citizens. A person who applies for allotment of building site or for a flat constructed by the Development Authority or entered into an agreement with a builder or a contractor is a potential user and the nature of construction is covered in the expressioin "service" of any description."

The Act requires provider of service to be more objective and care taking and it is still more in public service. When private undertakings are taken over by the government or corporations or are created to discharge what is otherwise State's function and the objective of such social welfare is to provide better, efficient and cost effective services to the peoplel. A Government or semi-government body or a local authority is as much amenable to the Act as any other private body rendering similar service. The expression 'Housing Counstruction' in the definition of "service" inserted by Ordinance No. 14 of 1993 demonstrates the entire purpose of widening the definition, which are otherwise not commercial in nature, yet they partake of a character in which some benefit is conferred on the consumer. Construction of a house or a flat can be achieved by a person either by doing it himself or by hiring services of a builder or contractor, later being for consideration and is a service as defined in the Act. Similarly, when a statutory authority develops land or allots a site or constructs a house for the benefit of a common man, it is as much service as by a builder or a contractor. The one is contractual service and the other statutory service. Any defect in construction activity would be denial of comfort and service to a consumer under the Act."

अतः अब यह बिन्दु शेष रह जाता है कि परिवादी किन अनुतोषों को प्राप्त करने का अधिकारी है ?

परिवादी के द्वारा दाखिल परिवाद लिखित बहस एवं समस्त पत्रावली एवं साक्ष्यों का पूर्ण–रूपेण अनुशीलन किया गया एवं उक्त अनुशीलन के उपरान्त पीठ इस निष्कर्ष पर पहुँचती है कि विपक्षी संख्या–1, परिवादी को उसके भवन के मूल्य के सापेक्ष 85 प्रतिशत धनराशि जैसा कि उन्होंने अपने लोन की स्कीम में दिया हुआ है, देने के उत्तरदायी हैं।

अब यह बिन्दु उठता है कि उक्त समस्त परिस्थितियों में परिवादी कितना ब्याज पाने का अधिकारी है।

इस सम्बन्ध में Gaziabad Development Authorty v/s. Balbir Singh (2004) 5 SCC 65 में निम्नलिखित सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है :–

" The provisions of the Consumer Protection Act enables a consumer to claim and empower the Commission to redress any injustice done. The Commission or the Forum is entitled to award not only value of goods or services but also to compensate a consumer for injustice suffered by him. The Commissio/Forum must determine that such sufferance is due to mala fide or capricious or oppressive act. It can tren determine amount for which the authority is liable to compensate the consumer for his sufferance due to misfeasance in public office by the officers. Such compensation is for vindicating the strength of law. It acts as a check on arbitary and capricious exercise of power. It helps in curing social evil. It will hopefully result in improving the work culture and in changing the outlook of the officer/public servant-No authority can arrogate to itself the power to act in a manner which is arbitary. Matters which require immediate attention should not be allowed to linger on. The Consumer must not be made to run from pillar to post. Where there has been capricious or arbitary or negligent exercise or non exercise of power by an officer of the authority, the Commission/Forum has a statutory obligation to award compensation. If the Commission/Forum is satisfied that a complainant is entitiled to compensation for loss or injury or for harassment or mental agony or oppressioin, then after recording a finding it must direct the authority to pay compensation and then also

direct recovery from those found responsible for such unpardonable behaviour.

At this stage itself it must be mentionewd that learned Attorney General had relied upon the case of Ghaziabad Development Authority V. Union of India reported in II (2000) CPJ 1 (SC) = IV (2000) SLT 654=(2000) 6 SCC 113, Wherein, whilst considering a case of breach of contract under Section 73 of the Contract Act, it has been held that no damages are payable for mental agony in cases of Authority (supra) and held that liability for mental agony had been fixed not within the realms of contract but under principles of administrative law. In this case the award towards mental agony was deleted on the ground that these were no pleadings to that effect and no finding on that point. This authority does not take a contrary view to the principles laid down in Lucknow Development Authority's case but merely differentiates it on fcts. Thus where there is a specific finding of misfeasance in public office compensation for mental agony can be granted. If there are findings of misfeasance in publice office then the principles set out in this authority will have no application and the principles set out in Lucknow Development Authority's case (supra) would apply. In such cases it would be open for the Commission/Forum to grant compensation for mental agony.

There can be no dispute to the principles laid down in Prashank Kumar Shahi's case and Bihar State Housing Board's case (supra). It is on these principles that it is already held that awarding interest at a flat rete of 18 % is not justified. It is clear that in all these cases interest is being awarded as and by way of compensation/damages. Whilst so awarding it must be shown that there is relationship between the amount awarded and the default/unjustifiable delay/harassment. It is thus necessary that there be separate awards under each such head with reasons why such award is justified. However, the principles that interest must be granted at the current rate of interest is only applicable where the proceedings are for recovery of debt or damages. They apply where a refund of amount is being claimed and the direction is to refund amounts with interest. The principles which govern grant of interest do not apply to grant of compensation. For this reason also it

becomes necessary to consider facts and award damage/compensatioin under various heads."

माननीय राज्य आयोग द्वारा "**Complaint No–23/2008,** Om Rice Mill Versus National Insurance Company Limited & athoers decided on 27.08.2012 " this commission took the view that in case of deficiency in service 18% interest is payable by the department.

In Punitive Damages Case Laws (Quote).....

परिवादी के विद्वान अधिवक्ता श्री एस0के0 शर्मा को परिवाद पर मौखिक एवं लिखित तर्क को सम्माहित करते हुए व विपक्षी संख्या–1 के विद्वान अधिवक्ता श्री कुलदीप कुमार शुक्ला द्वारा दाखिल लिखित बहस व विधि व्यवस्थाओं के आलोक में पीठ इस निष्कर्ष पर पहुँती है कि प्रस्तुत परिवाद विपक्षी संख्या–1 के विरूद्ध स्वीकार किये जाने तथा विपक्षी संख्या–2, जो प्रोफार्मा पार्टी है उसके विरूद्ध निरस्त किये जाने योग्य है। उपरोक्त विधि व्यवस्थाओं के परिप्रेक्ष्य में पीठ इस निष्कर्ष पर भी पहुँचती है कि परिवादी 18% प्रतिशत ब्याज प्राप्त करने का अधिकारी होगा।

आदेश

परिवादी का परिवाद, विपक्षी संख्या–1 के विरूद्ध स्वीकार किया जाता है और विपक्षी संख्या–1 को आदेश दिया जाता है कि वह परिवादी को एक माह के भीतर प्रश्नगत मकान नम्बर 3/396, विशाल खण्ड, गोमती नगर, लखनऊ के मूल कागजात (मूल सेल डीड) वापस करें। यदि ऐसा कर पाने में वह असफल रहते हैं तो वह उपरोक्त मकान के वर्तमान मूल्य के सापेक्ष 85% प्रतिशत धनराशि का भुगतान मय 18% ब्याज सहित एक माह में करना सुनिश्चित करें। परिवादी, प्यूनिटिव डैमेजेस के रूप में रू0 05.00 लाख भी विपक्षी संख्या–1 से पाने का अधिकारी है तथा परिवाद व्यय के रूप में रू0 20,000.00 परिवादी, विपक्षी संख्या–1 से पाने का अधिकारी है।

उपरोक्त आदेश का अनुपालन 02 माह में कराना सुनिश्चित करें।

इस निर्णय की सत्य प्रतिलिपि पक्षकारों को विधिवत उपलब्ध करा दी जाय।

10-09-2012

(एस0ए0ए0 रिज़वी)
पीठासीन सदस्य

(जुगुल किशोर)
सदस्य

लक्ष्मन